

## इतिहास बोध का संवर्धन करने वाली विलक्षण कृति

गढ़ तो चित्तौड़गढ़ बाकी सब गढ़ैया। पर्यटकों और सैलानियों के लिए महान आकर्षण। लगभग बीस वर्षीय नवयुवक के रूप में मैं भी 1966 में वहाँ पहुँचा था। ऐसा लगता था मानो विशाल शिलाओं से निर्मित अभेद्य प्राचीर के प्रस्तरों से निकलती गूँज में उसकी दीर्घकालीन शौर्य गाथाओं की प्रतिध्वनियाँ वातावरण को लयबद्ध कर रहीं हों। ऐसे माहौल में सैलानियों के गाइड अपने चटपटे रोचक अंदाज में 14वीं सदी की महारानी पद्मिनी के प्रति दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खल्जी की लोलुपता और 16वीं सदी की पन्ना दाई के बलिदान (महाराणा प्रताप के पिता उदयसिंह की बाल्यावस्था में हिफाजत करते हुए अपनी आँखों के सामने अपनी मर्जी से अपने ही नवजात पुत्र की हत्या) की रोमांचक गाथाएँ सुनाते हुए काफी गर्व महसूस करते हैं। मुझे आज भी याद है कि कैसे हमारे गाइड ने 'पद्मिनी के महल' का वह दर्पण दिखाया जिसमें अलाउद्दीन को महारानी के 'विश्व विख्यात' सौंदर्य के प्रथम दर्शन कराए गए थे! भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक पात्र रहे हैं, जिनके बारे में सदियों से किस्म-किस्म कि लोक गाथाएँ गढ़ी गईं। पद्मिनी के अलावा और उनसे पहले कनौज के गाहड़वाल राजवंश की राजकुमारी संयोगिता और अजमेर नरेश पृथ्वीराज चौहान की प्रेम-गाथा और बाद में मुगल सम्राट अकबर-कालीन शहजादे सलीम एवं 'कनौज' अनारकली कि दास्ताँ (आजकल चल रहे 'ताज' नामक चलचित्र के मुताबिक एक अनारकली स्वयं अकबर की पत्नी भी थी)–ये सभी जन-मानस के पटल पर छाई लोक-गाथाएँ हैं। 2017 में बनी संजय लीला भंसाली की विवादास्पद और चर्चित हिन्दी फिल्म 'पद्मावत' भी कुछ ऐसी गाथाओं पर ही आधारित है, किन्तु इतिहास के जिन मानक और सामान्यतया मान्य स्रोतों के आधार पर भारतीय इतिहासज्ञ अपने इतिहास गठन का सृजन करते हैं, उनमें अधिकांशतः इन सभी पात्रों की ऐतिहासिकता संदिग्ध मानी जाती है। प्रो. माधव हाड़ा कृत 'पद्मिनी : इतिहास और कथा-काव्य की जुगलबंदी' ऐसे इतिहास लेखनों को चुनौती देते हुए साहित्यकारों, इतिहासज्ञों और अन्य समाज-विज्ञानियों को परिपाटी से थोड़ा हटकर कुछ नई कार्यप्रणाली अपनाने के लिए प्रेरित करती है।

### प्रबन्ध की संरचना और 'देशज परंपरा' का विवेचन

सात सौ पृष्ठीय शोध प्रबन्ध का गठन दो खण्डों में किया गया है। प्रथम खण्ड में प्रास्ताविक और उपसंहार के अतिरिक्त सात अध्यायों में विषय का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनमें भारत में उपलब्ध साहित्य, इतिहास और मिथक संबंधी अवधारणात्मक मुद्दों का विश्लेषण करते हुए 'देशज कथा-काव्य' पर विशेष ध्यान केन्द्रित हुआ है। इस विशिष्ट साहित्य में निहित कथा स्रोतों, उनके प्रयोजन, उनकी भाषा और शिल्प तथा उनमें निरूपित संस्कृति की विस्तृत चर्चा की गई है। यह खण्ड प्रबन्ध का चालीस प्रतिशत भाग है। शेष साठ प्रतिशत में दूसरा खण्ड है, जिसमें इस शोध प्रबन्ध का मुख्य आधार समाया हुआ है। मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत के कथा-रूपांतर के अलावा इस खण्ड में उन आठों देशज कृतियों का परिचय, मूल पाठ और हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रबन्ध के मूल स्रोत हैं। यह सामग्री न केवल प्रथम खण्ड में निरूपित लेखक के विचारों एवं मतों की पुष्टि के लिए आवश्यक है, अपितु उन जिज्ञासु पाठकों के लिए भी वाँछनीय है, जो भविष्य में विषय के

कृष्ण मोहन श्रीमाली : सुपरिचित इतिहासकार। अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों के लेखक।

155, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली

मो. : 9899156204 ईमेल : kmshrimali@yahoo.com

अध्ययन की सीमाओं का विस्तार करने के इच्छुक हों। इस दृष्टि से दोनों खण्ड एक दूसरे के पूरक समझे जाने चाहिए। शोध प्रबन्ध की ऐसी संरचना के लिए लेखक बधाई के सुपात्र हैं।

लेखक के शब्दों में, “प्रस्तुत शोध कार्य मध्यकालीन साहित्य और इतिहास के बहुचर्चित, किन्तु विवादित पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण (1303) पर निर्भर देशज ऐतिहासिक कथा-काव्यों का विवेचनात्मक अध्ययन है।” (पृ. 11) इस प्रकरण पर सापेक्षिक रूप से अधिक विश्रुत मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत (संभवतः 1520 और 1540 के बीच रचित) को केवल उसके कथा-रूपांतर तक सीमित रखते हुए प्रो. हाड़ा ने निम्नलिखित आठ देशज ऐतिहासिक कथा-काव्यों (इन सभी की तिथियाँ वर्तमान युगीन वर्षों में दी गई हैं) को अपने अध्ययन की धुरी बनाया है : अज्ञात कवि कृत ‘गोरा-बादल कवित्त’ (1588 से पूर्व); हेमरतन कृत ‘गोरा-बादल पद्मिणी चउपई’ (1588); अज्ञात कवि कृत ‘पद्मिनी समियो’ (1616); जटमल नाहर रचित ‘गोरा-बादल कथा’ (1623); लब्धोदय द्वारा रचित ‘पद्मिनी चरित्र चौपई’ (1649); दयालदास कृत ‘राणारासो’ (1668-1681); दलपति विजय कृत ‘खुम्माणारासो’ (1715-1733) और अज्ञात लेखक कृत ‘चित्तौड़-उदयपुर पाटनामा’ (प्रतिलिपि, 1870)।

16वीं से 19वीं सदियों के दौरान रचित पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण से संबन्धित इन आठ कृतियों को प्रो. हाड़ा ने भारतीय ऐतिहासिक कथा-काव्यों की दीर्घकालीन, वैविध्यपूर्ण और समृद्ध ‘देशज परंपरा’ के रूप में संबोधित किया है। “यह परंपरा स्वायत्त और निरंतर है और इसकी रचनाओं की घटनाओं के मोड़-पड़ाव और जायसी से अलग होने के साथ एक-दूसरे से भी अलग हैं। अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने इस परंपरा की अलग से पहचान और मूल्यांकन नहीं किया।” (पृ.15)। यँ तो ‘देशज’ का शाब्दिक अर्थ ‘देश में उत्पन्न’ होता है और उस दृष्टि से तो सभी भारतीय भाषाएँ ‘देशज’ मानी जानी चाहिए। पर शायद लेखक का तात्पर्य लोक प्रचलित और सामान्य जन द्वारा प्रयुक्त उन अभिव्यक्तियों से है, जो संस्कृत, पालि, अपभ्रंश जैसी क्लासिकी (श्रेण्य) भाषाओं से अलग थीं। ‘देशज’ / ‘देशी’ / ‘देशजता’ का यह आशय संभवतः उसी प्रकार का है, जैसा संगीत और अन्य ललित कलाओं में ‘मार्गी’/ ‘शास्त्रीय’ (क्लासिकी) बनाम ‘देशी’ अथवा ‘लोक’ की अवधारणाओं में मिलता है। बनारस से संबन्धित हाल के एक लोकप्रिय और रोचक संस्मरणात्मक लेखन में लगातार नौ दशकों तक शहनाई को सिद्ध करने वाले उस्ताद बिस्मिल्लाह खॉं के बारे में कहा गया है, “यह सोचा जाना चाहिए की क्यों उस्ताद ने अलंकारों, तानों, आलापों और शास्त्रीय संगीत के दूसरे संध्रांत और यशस्वी आयामों में जाने की बजाए लोकधुनों को ही तराशने का एक देशज, अतिसाधारण और विपन्न रास्ता चुना?...हिन्दू नवविवाहितों में गंगापूजन के समय बजने वाली बधइया हो, गंगा की धारा में जीवनयापन करने वाले नाविकों के गीत हों या चौती, कजरी, ठुमरी, सावनी जैसे अन्य उत्तरभारतीय लोकगानरूप--उस्ताद की कला की विश्वसनीयता इस बात में है कि इन गानरूपों के उनके बजाए संस्करण ही मूल और अविकल माने जाते हैं।” (व्योमेश शुक्ल, ‘आग और पानी : बनारस पर एकाग्र गद्य’, 2023, पृ. 46-47) माधवजी द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध ऐसा प्रथम एकाग्रतापूर्ण प्रयास है, जो हमें भारतीय साहित्य के क्षेत्र में ऐसी ही विलक्षण ‘देशज’ परंपरा की संरचना में निहित दर्शन, विचारधारा, कथा स्रोत एवं संयोजनके अतिरिक्त समस्त रचनाओं में निरूपित जन-संस्कृति से रूबरू कराता है।

उक्त आठ रचनाओं में से तीन कृतियाँ जैन यतियों--हेमरतन, लब्धोदय एवं दलपति विजय की हैं। इनमें से दलपति तपागच्छ का यति था और दौलतविजय के नाम से भी जाना जाता था। सामान्यतया ये यति कथाओं का उपयोग अपने धार्मिक प्रवचनों और उपदेशों को रोचक बनाने के लिए करते थे। यद्यपि हेमरतन कृत चउपई में तत्कालीन शासक महाराणा प्रताप का जिक्र है तथा उसमें सभी देशज रचनाओं की तुलना में सर्वाधिक आधारभूत मूल स्रोत हैं, फिर भी उसका उद्देश्य इतिहास लेखन न होकर रस उत्पन्न करना है। उक्त तीनों यतियों की रचनाओं की विशेषता यह है कि इनमें कथा का धार्मिक

रूपान्तरण नहीं है। स्वामी धर्म और सतीत्व का आदर्श प्रस्तुत करना ही उनका उद्देश्य है। जहाँ पद्मिनी-रत्नसेन-तुर्की शासक अलाउद्दीन खल्जी गाथा से संबन्धित अरबी-फारसी और यहाँ तक कि जायसी कृत पद्मावत में भी 'इस्लाम विजय' की घोषणा मिलती है, वहीं जैन यति उसे मात्र अलाउद्दीन अथवा रत्नसेन की ही विजय या हार बताते हैं। उनकी रचनाओं का चरित्र गैर-धार्मिक है। (पृ. 65-66) यद्यपि जटमल नाहर जैन श्रावक था परंतु चूँकि वह राजस्थान से दूर पंजाब में कार्यरत था, इसलिए उसकी 'गोरा-बादल कथा' तीनों यतियों की कृतियों से भिन्न है। इस संदर्भ में हमें दो प्रश्न उद्भूत कर रहे हैं। पहला, लेखक ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है कि आखिर जैन यतियों की रचनाएँ गैर-धार्मिक क्यों हैं। परंपरानुसार जैन मतावलंबियों द्वारा रचित अनेक कथा-काव्यों और प्रबंधों में जैन धर्म की शिक्षाओं और उनके सिद्धांतों का स्पष्ट आरोपण देखने को मिलता है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान युग की आरंभिक सदियों में कवि स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' (राम-कथा पर आधारित) और परवर्ती काल में जैनियों के अनेक पुराण ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। तो फिर जैन यतियों की इन देशज रचनाओं में क्यों नहीं? दूसरा, क्या साहित्यिक ग्रन्थों अथवा अन्य स्रोतों को 'धार्मिकता' की पट्टिका लगाना आवश्यक और न्यायोचित है? बात यह कि मैं व्यक्तिगत तौर पर संस्कृत, पालि, प्राकृत, तमिल और यहाँ तक कि 'देशज' आदि भाषाओं में भी रचित प्राचीन काव्यों/ग्रन्थों को मात्र सामान्य बोध वाली और तथाकथित विशिष्ट पंथीय 'धार्मिकता' के जामे में बाँधकर नहीं देखना चाहता। हालाँकि, एक अन्य धरातल पर वे सभी 'धार्मिक' भी हैं क्योंकि भारत में 'धर्म' कभी भी पाश्चात्य 'रेलीजन' का पर्याय नहीं रहा है। प्रोफेसर (पी.) पांडुरंग (वी.) वामन काणे कृत 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' रूपी विशाल रचना (40 वर्षों के अथक परिश्रम से आठ भागों में पाँच खंड और लगभग 6500 पृष्ठों में रचित, जिनके लिए भारत सरकार ने उन्हें 1963 में भारत-रत्न की उपाधि से सम्मानित किया था) इस बात की साक्षी है कि भारत में 'धर्म' की अवधारणा में मानव के सम्पूर्ण जीवन-समाज के नियम, अर्थ-व्यवस्था, राजनय, न्याय, दंडविधान, आदि का समावेश था। शायद इसीलिए ऐसा माना जाता है कि महाभारत जैसे तथाकथित 'धर्म-ग्रंथ' में प्रस्तुत धर्म का विवेचन कई बार रूढ़ धर्मशास्त्रीय धारणाओं को ध्वस्त कर देता है।

जैन यतियों और जटमल नाहर की रचनाओं को छोड़कर शेष रचनाएँ राज्याश्रित चारण-भाटों की कृतियाँ मानी गई हैं। ये कृतिकार (नामांकित अथवा अज्ञात) राजवंशीय मूल्यों को पोषित करने के लिए बाध्य थे। इनकी रचनाओं में वंश और प्रशस्ति का विवरण पारंपरिक कवि-कथा समर्थों, अभिप्रायों और कथा रूढ़ियों के विन्यास में है। प्रो. हाड़ा ने यदा-कदा इनकी वस्तु-निष्ठता पर वाजिब प्रश्न चिह्न खड़े किए हैं जो बहुत जरूरी था। परंतु उनका यह कहना कि चारण और जैन कवि 'राज्याश्रय' या शासकीय प्रभाव के बजाय पारंपरिक और पैतृक कवि शिक्षा पर अधिक निर्भर थे (पृ. 265), शायद जैन कवियों के मामले में तो उचित हो सकता है; चारणों के बारे में पचनीय नहीं है। 'संस्कृति' नामक छठे अध्याय में चारणों द्वारा वर्णित राजवंशीय मूल्यों को रेखांकित किया गया है, जिनकी जड़ें प्राचीन संस्कृत भाषाई शास्त्रों में थीं। विवेच्य रचनाओं में 'खित्रिवट' (क्षत्रियत्व) और 'रिणवट' (युद्ध की रीत) की पर्याप्त सराहना हुई है। अतः 'क्षत्रियत्व' को सर्वोपरि बताते हुए युद्ध-आधारित संस्कृति के पोषकों के रूप में शौर्य, पराक्रम, शरणागति और आक्रामकों से प्रजा की सुरक्षा को प्रमुखता दी गई। यहाँ तक कि कर्मफल और नियतिवाद भी युद्ध संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए। शरीर की नश्वरता और मोह पर काबिज होने का पाठ पढ़ाते हुए मृत्यु से यश और स्वर्ग प्राप्ति का प्रलोभन भी दिया गया। कुछ अन्य प्रमुख सरोकारों में जातीय स्वाभिमान, स्त्रियों के लिए स्वामिधर्म की महिमा, सतीत्व और मरने की हृद तक शील और यौन शुचिता का आग्रह बढ़ गया। यद्यपि पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण से संबंधी इन देशज कृतियों में मेवाड़ की महारानी इन मूल्यों के प्रति समर्पित होने के लिए संकल्पित होते हुए निरूपित की गई है (पृ. 201-204), परंतु यह विचारोत्तेजक पहलू है कि स्त्री लोलुप अलाउद्दीन जैसे आक्रांता के कहर के

बावजूद, मेवाड़ की स्त्रियाँ 'जौहर' नहीं करतीं। इसकी वजह यह हो सकती है कि विवेचित देशज रचनाओं में अधिकांशतः रत्नसेन को अलाउद्दीन से हुए युद्ध में विजयी दिखाया गया है। पद्मिनी एवं मेवाड़ की अन्य रानियों / स्त्रियों द्वारा 'जौहर' की संपन्नता जायसी की वैचारिक उड़ान है।

विवेचनाधीन आठों देशज रचनाओं में से 'चित्तौड़-उदयपुर पाटनामा' (प्रतिलिपि, 1870) नामक अंतिम कृति का कलेवर काफी अलग सा है। यह एक अद्भुत प्रकार की गद्य रचना है, जिसमें इतिहास, आख्यान और गल्प का असाधारण मिश्रण है। इसके बारे में माधवजी लिखते हैं, "यहाँ अपने आख्यान कौशल से लेखक इतिहास को गल्प में बदल देता है और सच्चाई बयान करने वाले की अपनी पारंपरिक पेशेवर पहचान के चलते गल्प को तिथियों, संख्याओं आदि के उल्लेख से इतिहास का रूप देता है।" (पृ. 77) ऐसा लगता है मानो कि यह 21वीं सदी की हार्ट्सएप्प यूनिवर्सिटी से निकले इतिहास का आदि रूप हो!

प्रो. हाड़ा के प्रस्तुत अध्ययन में देशज कथा-काव्यों कि जिस निरंतरता का जिक्र किया है, वह प्रशंसनीय है। वे लिखते हैं, "यहाँ कृति को रचना के बाद मुक्त करने की परंपरा रही है। यहाँ किसी रचना के समान विषय-वस्तुवाली या उससे हटकर या उसको उद्धृत करते हुए अपनी अलग रचना करने की स्वतन्त्रता हमेशा रही है।" (पृ. 80 और 270) यह प्रवृत्ति आधुनिक इतिहास-बोध के उस पहलू से मेल खाती है, जिसमें 'पाठों' कि अपूर्णता, गत्यात्मकता और पाठकों द्वारा उसके पुनर्सृजन की संभावनाओं को स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर 'निरंतरता' संबंधी माधवजी का निम्न वक्तव्य किंचित विचलित करने वाला और कुछ अंतर्विरोधी सा लगता है, "पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण चौदहवीं सदी का है, जबकि इन कथा-काव्यों की रचना सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच हुई, लेकिन इस समयांतराल का कोई बहुत निर्णायक महत्त्व इसलिए नहीं है, क्योंकि मध्यकालीन सांस्कृतिक इकाइयाँ कमोवेश स्वायत्त थीं, उनमें परिवर्तन की गति बहुत धीमी थी और विचार-विश्वास दीर्घकाल तक अपरिवर्तित रहते थे।" (पृ. 173) समाज की इस जड़ता की ऐसी हिमायत किंचित अनैतिहासिक तो लगती ही है, बल्कि उस औपनिवेशिक इतिहास-दृष्टि से भी मेल खाती है, जिसके तहत भारतीय समाज को मूलतः जड़ समाज की संज्ञा दी गई थी। यह साम्यता इसलिए अधिक विस्मयकारी लगती है क्योंकि प्रो. हाड़ा भारतीय इतिहास चेतना सम्बन्धी औपनिवेशिक विचारों के घोर आलोचक हैं।

पद्मिनी प्रसंग में अब तक जिस प्रकार की प्राथमिकता जायसी कृत 'पद्मावत' को दी गई है, उसको पूरी तरह से नकारते हुए इस शोध प्रबंध में देशज कथा-काव्यों को बीज कथा का दर्जा दिया गया है। लेखक का मत है कि इनमें न तो 'पद्मावत' जैसी जटिलताएँ हैं, न उतना कथा का विस्तार, और न ही कथा के मोड़-पड़ाव। सापेक्षिक रूप से इन रचनाओं में क्षेत्रीय सांस्कृतिक जरूरतों के अनुसार काफी सरलीकरण हुआ। उक्त आठ कथा-काव्यों के अतिरिक्त और उनसे भी पहले रचित 'छिताईचरित' (वर्तमान युगीन 1475-1480) में पद्मिनी के उल्लेख से निकलने वाली ध्वनि का भी इशारा है कि पद्मावत से बहुत पहले यह कथा बीजक लोक में प्रचलित था। यह भी असम्भव नहीं कि परवर्ती-कालीन कुछ फारसी-अरबी वृत्तान्तों पर भी इसका असर हुआ हो। यदि अलाउद्दीन की सराहना और उसकी कमजोरियों को छिपाना फारसी-अरबी वृत्तान्तकारों की मजबूरी होगी तो यह भी उतना ही स्वाभाविक रहा होगा कि विवेचनीय देशज कृतियों के सृजक, विशेषकर चारण, अलाउद्दीन को स्त्री लोलुप और क्रूर तथा रत्नसेन को उसके विरुद्ध सदा विजयी प्रदर्शित करने के लिए बाध्य रहे हों। इस संदर्भ में वस्तु-निष्ठता स्थापित करने का तकाजा है कि मात्र इन देशज रचनाओं के आधार पर प्रो. हाड़ा का यह निष्कर्ष कि "वह (अलाउद्दीन) क्रूर था।" (पृ. 274) एक-तरफा फैसला तो हो सकता है, पर ऐतिहासिकता-सम्पन्न न्याय नहीं। यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है कि सल्तनत और मुगल कालीन शासकों में वह ऐसा विरल शासक है, जिसकी लोक स्मृति में उपस्थिति बहुत निरंतर और सघन है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में चर्चित आठ देशज कृतियों के अलावा माधवजी ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, और कुछ लोक कथाओं में

मिलने वाली ऐसी सात रचनाओं की भी गणना की है, जिनमें अलाउद्दीन का उल्लेख मिलता है। (पृ. 139 और 164 की पाद टि. 57)

शोध-प्रबंध में शामिल देशज कृतियों के रचनाकार शास्त्रसिद्ध और निष्णात लेखक न थे और इनकी शिक्षा भी औपचारिक न होकर पैतृक या गुरु प्रदत्त थी। शायद इसीलिए विचाराधीन पाठों की भाषा 16वीं से 19वीं सदियों के दौरान बनने-बदलने वाली उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुछ इलाकों की देशभाषा है, जिसमें प्राकृत-अपभ्रंश और डिंगल की कई प्रवृत्तियाँ अवशेष रूप में मौजूद हैं। यदा-कदा स्थानीय बोलियों और फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है। छन्द, दोहा, चौपाई, अलंकार (यथा अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा), मुहावरे और लोकोक्तियों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। ऐसा भी लगता है कि चूँकि रचनाओं के अंतिम लक्ष्य सामान्य श्रोता रहे होंगे, अतः उनकी रुचियों एवं समझ ने भी भाषाई स्वरूप को लोक-तत्त्व से प्रभावित किया।

### भारतीय परंपरा में 'इतिहास'

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से आने वाले प्रो. हाड़ा ने आखिर इतिहास के एक छोटे से प्रकरण को लेकर इन देशज रचनाओं का इतना विहंगम और अद्भुत विश्लेषण करने का बीड़ा क्यों उठाया? इसका उत्तर पाने के लिए उन मुद्दों पर दृष्टिपात करना होगा, जो न केवल साहित्यकारों और इतिहासज्ञों को झकझोरते रहे हैं, अपितु ज्ञान के अन्य अनुशासनों के अन्वेषकों को भी चुनौती प्रदान करते रहें हैं। शायद इसीलिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के रचयिता ने भारतीय परंपरा में 'इतिहास' पर सबसे पहले चर्चा करना जरूरी समझा।

भारत में, विशेषकर प्राचीन कालीन भारत में, इतिहास की संकल्पना और इतिहास लेखन की उपस्थिति और अनुपस्थिति को लेकर गत लगभग दो सौ वर्षों से गंभीर विवाद रहा है। औपनिवेशी इतिहासज्ञों और प्रशासकों ने भारतीयों को सदा इतिहास चेतना विहीन के रूप में ही चिह्नित किया। इस बोध को चुनौती देते हुए माधवजी ने कई स्थलों पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अंतर्दृष्टियाँ उद्धृत की हैं। गुरुदेव ने अपने एक निबंध 'भारतवर्षे इतिहास' में 21वीं सदी के आरंभ में ही सचेत कर दिया था कि "दरअसल इस अंधविश्वास का परित्याग कर देना चाहिए कि सभी देशों के इतिहास को एक समान होना चाहिए।" इसी संदर्भ में गुरुदेव टैगोर रचित 'विजन ऑफ हिस्ट्री' का यह उद्धरण भी अत्यंत प्रासंगिक है, "वे लोग जिन्हें भारतीय आधिकारिक अभिलेखागार में शाही परिवारों की वंशावली और उनकी जय-पराजय के वृत्तान्त न मिलें, वे भारतीय इतिहास के बारे में पूरी तरह निराश होकर कह सकते हैं कि 'जहाँ कोई राजनीति ही नहीं, वहाँ भला इतिहास कैसे हो सकता है?' लेकिन ये धान के खेतों में बैंगन तलाश करने वाले लोग हैं। और जब उन्हें वहाँ बैंगन नहीं मिलते हैं, तो फिर कुंठित होकर वे धान को अन्न की एक प्रजाति मानने से ही इनकार कर देते हैं। सभी खेतों में एक-सी फसलें नहीं होती हैं। इसलिए जो इस बात को जानता है और किसी खेत विशेष में उसी फसल की तलाश करता है, वही वास्तव में बुद्धिमान होता है।" (पृ. 51, हालांकि यहाँ ऐसा लगता है कि उद्धरण चिह्नों के प्रयोग में किंचित असावधानी के कारण लेखक और गुरुदेव के विचारों का शायद कुछ घालमेल हो गया है।) टैगोर के एक अन्य निबंध के हवाले से, "एक समय था, जब 'रामायण-महाभारत' इतिहास थे।...काव्य कहता है, भाई इतिहास तुम्हारे भीतर बहुत कुछ मिथ्या है, मेरे भीतर भी बहुत कुछ सच है। आओ, हम पहले की तरह एक-दूसरे के साथ मिलकर रहें।" (पृ. 265)

सौभाग्यवश आजादी के बाद ऐसे अनेक इतिहासज्ञों की रचनाएँ प्राप्त हैं, जो 'इतिहास चेतना' सम्बन्धी औपनिवेशिक बोध को सामूल खारिज करती हैं। इस संदर्भ में विश्वंभर शरण पाठक ('एंग्लो-इंडियन हिस्टोरियज ऑफ इंडिया', 1966) और रोमिला थापर ('दि पास्ट बिफोर अस : हिस्टोरिकल ट्रेडीशंस ऑफ अर्ली नॉर्थ इंडिया', 2013) का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रो. हाड़ा स्वयं ऐसे अनेक

लेखनों से परिचित ही नहीं हैं (पृ. 54, पाद टिप्पणी 10), अपितु उन्होंने इस सम्पूर्ण विषय की विषद विवेचना भी की है। (अध्याय-1) संस्कृत में रचित 'ऋग्वेद', 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण', एवं 'पालि', प्राकृत-अपभ्रंश और परवर्ती देशी भाषाओं में प्राप्य इतिहास की अनेक विधाओं (यथा 'नाराशंसी', 'गाथा', 'आख्यान', 'रास-रासो', 'चरित', 'ख्यात', 'बही', 'इतिवृत्त', 'वंशावली', 'चउपई', 'विगत', इत्यादि) का संज्ञान लेते हुए इस मत की बलपूर्वक स्थापना की है कि प्राचीन भारत की बौद्धिक चेतना में विश्व के किसी भी समाज और उसकी संस्कृति की तुलना में इतिहास बोध और ऐतिहासिक चेतना का कोई अभाव न था। प्रो. हाड़ा का यह शिकवा मुनासिब है, "यह विडंबना है कि जिस समाज में श्रुत की इतनी निरंतर और समृद्ध परंपरा है, वहाँ लोक स्मृति पर निर्भर रचनाओं को केवल 'गल्प' की श्रेणी में रखा जाता है।" (पृ. 264)

इतिहास लेखन की प्रक्रिया में स्मृतियों के झरोकों में झाँकना और उनको तार्किक तरीकों से संजो के रखना महत्त्वपूर्ण अंग होता है। एक अच्छे इतिहासज्ञ के प्रशिक्षण में 'पाठों' (टेक्स्ट्स) की 'लाइनों के बीच में पढ़ना' (रीडिंग बिटवीन दि लाइंस), उनकी 'अनुपस्थितियों' को उजागर करना' (रीडिंग दि एब्सेंसिज) और मौजूद किन्तु मूक ध्वनियों को सुनना शामिल होता है। आज भारत के अनेक इतिहासज्ञ इन क्षमताओं की अपरिहार्यता को समझ रहे हैं और उनका कार्यान्वयन करते हुए इतिहास लेखन के ऐसे नए आयाम पटल पर ला रहे हैं, जिनसे भारतीय इतिहास बोध की सीमाओं का निरंतर विस्तार हो रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात में सोमनाथ के मंदिर पर किए गए अनेक आक्रमणों की वजह से महमूद गजनवी सदियों से भारतीय इतिहास लेखनों में केवल खलनायक के रूप में ही चित्रित किया गया है। वर्तमान सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों के हाथों में तो वह विध्वंसात्मक और विभाजनकारी सांप्रदायिकता का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वाभाविक अस्त्र बन गया है। किसी भी घटना चक्र की स्मृतियाँ सदा एकसी नहीं रहती हैं। निरंतर परिवर्तनशील समाजों में उनका पुनर्गठन या नवनिर्माण होना वैध ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया के दौरान किंचित विरोधाभासी स्वयं का अस्तित्व में आना भी स्वाभाविक ही होता है। यह इतिहासज्ञ का दायित्व होता है कि वह इन स्वयं की ध्वनियों को सुने। पारंपरिक तुर्की-फारसी वृत्तान्तों, सोमनाथ और उसके आस-पास के इलाकों से प्राप्त संस्कृत अभिलेखों, कुछ जैन ग्रन्थों, राजस्थान-गुजरात के महाकाव्यों, औपनिवेशिक प्रशासकों और इतिहासज्ञों के निहित मंसूबों के विश्लेषण का सहारा लेते हुए रोमिला थापर ने 'सोमनाथ : दि मैनी वॉइसिज ऑफ अ हिस्ट्री' (2004) में ऐसा ही दायित्व निभाया है। फलस्वरूप महमूद गजनवी का वैकल्पिक रूप भी सामने आया है, जो उसका किंचित बहुमुखी चित्र प्रस्तुत करता है।

विगत तीन-चार दशकों में इतिहासज्ञों ने 'दस्तावेजी', 'अभिलेखागारों' के मायनों में भी संध लगाई है। शाहिद अमीन ने 'मौखिक अभिलेखागार' का द्वार खोलकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान 1922 में चौरी चौरा की घटना में भाग लेने वालों और उनके उत्तराधिकारियों की स्मृतियों को सँजोकर जिस प्रकार का इतिहास गढ़ा ('ईवेंट, मेटाफर, मेमोरी : चौरी चौरा' 1922-1992; 1995 में प्रकाशित), वह काफी उत्तेजक और प्रेरक रहा है। लगभग दो दशक बाद चौरी चौरा घटना के पुनर्गठन में प्रयुक्त कार्यप्रणाली का ही अनुसरण करते हुए प्रो. अमीन ने 2016 में 'कॉंकुएस्ट एंड कम्युनिटी : दि आफ्टरलाइफ ऑफ सेंट गाजी मियाँ' लिखकर सैयद सालार मसूद (सोमनाथ मंदिर के महाविध्वंसक महमूद गजनवी के तथाकथित भाँजे) के व्यक्तित्व का पूर्ण रूपान्तरण कर दिया। लगभग सात-आठ सौ वर्षों के अंतराल के दौरान वह उत्तरी भारत में तबाही मचाने वाले विध्वंसक आक्रांता से गाजी मियाँ और लोक-गाथाओं का नायक बन गया। पूर्वी उत्तर प्रदेश में बहराइच में उसकी मजार पर होने वाले वार्षिक मेले में आज भी असंख्य बहुधर्मी तीर्थयात्री आते हैं और अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए दुआएँ माँगते हैं।

भारतीय 'इतिहास' लेखन का यह बदलता स्वरूप प्रो. हाड़ा के संकल्प को दृढ़ता प्रदान करता है।

पद्मिनी विषयक देशज रचनाएँ सीधे-सीधे यथार्थ नहीं, यथार्थ का प्रतिबिंबन हैं—यह यथार्थ कवि-कथाकार का अपना देखा गया यथार्थ है। आम मान्यताओं के अनुसार ये ‘दस्तावेजी’ और ‘आनुभविक’ न होने के बावजूद कल्पना नहीं हैं। इन देशज कथाओं के संबंध में लेखक का यह निष्कर्ष स्वीकार्य हो सकता है कि “इतिहास इनमें कहीं आधार है, तो कहीं रीढ़ और कहीं केवल सहारा, लेकिन यह इनमें है।... यहाँ इतिहास कथा में और कथा इतिहास में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि इनकी अलग पहचान मुश्किल हो जाती है।” (पृ. 273)

### साहित्य, इतिहास और मिथक

भारतीय इतिहास चेतना की संकल्पना के अतिरिक्त एक अन्य मुद्दा जिसपर प्रो. हाड़ा ने विस्तार से चर्चा की है, वह साहित्य और इतिहास के अंतर्संबंध के विश्लेषण पर आधारित है। साहित्यकारों का कहना है कि उनकी रचनाओं में तिथियों को छोड़ दें तो सब कुछ सत्य होता है और वह इतिहास ही है। जबकि इतिहास में मात्र तिथियों का घमासान ही है और शेष कपोल-कल्पना। इसके विपरीत इतिहासज्ञों के लिए साहित्य में कल्पना की उड़ान ही सब कुछ है और वहाँ वास्तविकता को समझने और समझाने का प्रयास दुर्लभ होता है। पिछले कुछ दशकों में उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव में इतिहास लेखन में साहित्यकारों का वर्चस्व काफी बढ़ा है। ऐसा लगता है कि साहित्य और इतिहास की इस तनातनी में दोनों ही क्षेत्र रक्षकों की ओर से काफी अनावश्यक और वर्जनीय आक्रामकता का प्रदर्शन हुआ है। कम से कम प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लेखन में तो इस तनातनी की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। इन काल-खण्डों के इतिहास का गठन करने वाला ऐसा कोई भी इतिहासज्ञ नहीं, जिसने ‘ऋग्वेद’, ‘रामायण’, ‘महाभारत’, पालि ‘तिपिटक’, ‘पुराणों’, जैन ‘आगमों’, ‘अरबी-फारसी वृत्तान्तों’, इत्यादि का सहारा न लिया हो। क्या कालिदास, भास, हर्ष, भारवि, जयदेव, इत्यादि के काव्यों, नाटकों, कथा-काव्यों के आधार पर इतिहास लेखन नहीं हुआ है? यह संभव है कि कुछ इतिहासज्ञों ने अपनी विशिष्ट इतिहास-दृष्टि के कारण ऐसी रचनाओं की सापेक्षिक ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न खड़े किए हों, पर यह स्रोत के रूप में साहित्य की श्रेणी को नकारना नहीं है। हकीकत तो यह है कि सही रूप में प्रशिक्षित आज का इतिहासज्ञ अधिकाधिक सम्भव स्रोतों (आजकल इन्हें ‘पाठ’/‘टेक्स्ट्स’ कहा जाने लगा है) से प्राप्य जानकारी के आधार पर इतिहास के गठन और पुनर्गठन की क्षमता रखता है। न केवल इतिहास और साहित्य बल्कि अनेकानेक विषयों में पारस्परिक समन्वय की अपरिहार्यता को ग्रहण कर हृदयंगम कर लेना ही उचित मार्ग है। कविवर कुँवर नारायण की संक्षिप्त परंतु काफी भेदक रचना ‘साहित्य के कुछ अंतर्विषयक संदर्भ’ (साहित्य अकादेमी संवत्सर व्याख्यान, पुनर्मुद्रण 2018) तो याद आ ही रही है; और फिर स्वयं प्रो. हाड़ा ने भी तो अपने इस शोध प्रबन्ध के उपशीर्षक में ‘इतिहास और कथा-काव्य की जुगलबंदी’ को रेखांकित किया है। इसी संदर्भ में यदि यह कहा जाए कि दामोदर धर्मानंद कोसंबी रचित और साठ वर्ष पूर्व 1963 में प्रकाशित निबन्ध ‘कंबाईंड मेथड्स इन इंडोलॉजी’ इतिहास लेखन के क्षेत्र में मीलस्तंभ रहा है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। कोसंबी की इस कार्यप्रणाली में समाज-विज्ञान के अनेकों विषयों, नृवंशविज्ञान, भाषाविदों और यहाँ तक कि सांख्यिकीय के समन्वय से उत्पन्न दृष्टि से इतिहास गठन की अपरिहार्यता पर बल दिया गया था।

साहित्य और इतिहास के अंतर्संबंधों जैसा ही पेचीदा मुआमला इतिहास और मिथकों की पारस्परिक खींचतान का है। आम-जन के लिए मिथ/ मिथक झूठ का पर्याय और कोरी कल्पना की उड़ान मात्र है। परंतु अनेकों अकादमिक विषयों के संजीदा विद्वान मानते हैं कि मिथ को समझना कोई आसान काम नहीं है। पिछले लगभग दो सौ वर्षों में इतिहासज्ञों से ज्यादा नृवंशशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों / समाजविज्ञानियों, पुरातत्त्व के विद्वानों, मानव-विज्ञानियों, आदि ने इस दिशा में नए आयाम स्थापित किए हैं। मिथक की अवधारणा गुहावासी आदिमानव के समय से ही निरंतर विकासशील रही है। इसे

मात्र सच या झूठ के खंड-खंड रूप में देखना लाभकारी नहीं होगा। अपितु इनको अग्रगामी या परिवर्तनशील समाज के साथ-साथ कदमताल करते हुए देखा जा सकता है। प्रतीकात्मक रूप में ही सही, मिथक संचारात्मक भाषा के माध्यम से समाज के बहु-आयामी सत्तों की अनेक परतों को खोलने की क्षमता रखते हैं। शायद ठीक वैसे ही जैसे जैनियों का स्यादवाद का सिद्धान्त एकरूपी/एकांगी सत्य का खण्डन करते हुए उसके अनन्त होने का प्रतिपादन करता है। (अनन्त-धर्मात्मकमेव-तत्त्वं) मिथकों की इस भाषा को समझना किसी गुप्त संदेश या कूट वाक्य के अर्थ को उजागर (डीकोड) करने जैसा है।

यूँ तो भारत में इतिहास बनाम मिथक के प्रश्न पर अनेक दृष्टियाँ समय-समय पर चर्चा पटल पर आती रहीं हैं--दामोदर धर्मानंद कोसंबी ने 1962 में 'मिथ एंड रिएलिटी' (1976 में प्रकाशित मिथक और यथार्थ शीर्षक से इसका हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है) नामक क्रांतिकारी शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया, तो दूसरी ओर प्रसिद्ध पुरातत्त्व शास्त्री हंसमुख धीरजलाल सांकलिया ने 1973 में 'रामायण : मिथ और रिएलिटी' की रचना की। परंतु 1980 के दशक में अयोध्या में राम जन्मस्थान के विवादित मुद्दे के गर्माति ही यह प्रश्न खूब उछलने लगा कि राम ऐतिहासिक पुरुष हैं या मात्र मिथकीय चरित्र। कुछ इतिहासज्ञों के लिए 'रामायण-महाभारत' जैसे महाकाव्य और सभी पुराण वास्तविक इतिहास हैं जबकि अनेक इतिहासज्ञ इन्हें मिथकीय मानकर और उनकी भाषा को डीकोड कर पूर्ण ऐतिहासिक अनुशासन का पालन करते हुए सावधानी पूर्वक इतिहास का गठन करने के पक्षधर हैं। उदाहरण के तौर पर उनके लिए यह आवश्यक है कि घटना के रूप में कुरुक्षेत्र में हुए महाभारत युद्ध और महाकाव्य के रूप में महाभारत जैसे ग्रंथ में अंतर किया जाना चाहिए। जहाँ यह युद्ध मात्र अठारह दिनों में समाप्त हो गया वहीं महाकाव्य की रचना आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर भी तीन चरणों--जय, भारत और महाभारत (क्रमशः आठ, चौबीस और शत सहस्र श्लोकों का सफर) रूपी दौर से गुजरते हुए लगभग आठ शताब्दियों में पूर्ण हुई। सही मायने में इतिहासज्ञ की जिम्मेदारी तर्क और श्रद्धा के द्वंद से जूझे बिना पूरी नहीं होती और इस द्वंद में उसे श्रद्धा को तिलांजलि देते हुए मात्र तर्क के आधार पर ही इतिहास लेखन करना पड़ता है। इसी सोच को थोड़ा और आगे बढ़ाएँ तो कोसंबी के उक्त ग्रंथ में से उर्वशी और पुरुरवा सम्बन्धी मिथक के ऐतिहासिक बोध का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। मेरा मानना है कि इस अध्ययन में कोसंबी ने इतिहास और साहित्य कि जुगलबंदी से भी दो कदम आगे बढ़कर, नृत्य और ललित कलाओं की शब्दावली में कहें, तो इतिहास, साहित्य और मिथक की त्रिभंगी लयात्मकता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'ऋग्वेद' से लेकर कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीयम्' तक के लगभग दो हजार वर्षों में फैली इस गाथा के बदलते रूपों को उन्होंने परिवर्तनशील समाज से जोड़कर विलक्षण दृष्टि प्रदान की है। कबायली समाज से स्तरीकृत वर्गीय समाज और मातृसत्तात्मक बनाम पितृसत्तात्मक समाजों के द्वन्द्वत्मक संक्रमण की ऐतिहासिक प्रक्रिया को चिह्नित किया है।

### मिथकों और आख्यानों के नवसृजन

'पुनः पुनः जायमानो पुराणी'--यह मिथकों और आख्यानों के नवसृजन का सूत्र है। उर्वशी-पुरुरवा के अलावा 'ऋग्वेद' में ऐसे लगभग 30 आख्यानों के संकेत मिलते हैं, जो परवर्ती साहित्य में पल्लवित हुए। शुनरुशेष, वसिष्ठ-विश्वामित्र, सोम-हरण, इन्द्र-वृत्र, इत्यादि इसके अच्छे उदाहरण हैं (इस मुद्दे से संबन्धित एक विश्लेषणात्मक कृति 2004 में प्रकाशित डेनियल फेल्लर रचित 'द संस्कृत एपिक्स' रीप्रेजेन्टेशन ऑफ वैदिक मिथ्स' है)। नचिकेता आख्यान का बदलता रूप ऋग्वेदीय बीज से लेकर 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'कठोपनिषद', 'वराहपुराण', आदि से होता हुआ 19वीं सदी में 'नासिकेतोपाख्यान' और उसके बाद कुँवर नारायण कृत खण्ड-काव्य 'आत्मजयी' (1965) और 'वाजश्रवा' के बहाने (2008) हमें आज भी प्राप्त है। उर्वशी-पुरुरवा सम्बन्धी कोसंबी के क्रांतिकारी अध्ययन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस सरीके का एक पुनर्गठन इंद्र-वृत्र मिथक को आधार मानकर किया गया है। ऋग्वेद, महाभारत



और तांत्रिक साहित्य में प्राप्य इसके परिवर्तनशील रूपों को कबायली समाज में प्राकृतिक दैविक शक्तियों के संघर्ष से लेकर, वर्गीय समाज में इन्द्र को ब्राह्मण-हत्या के पाप का भागी बनाना और फिर उसका पश्चाताप करने के लिए इन्द्र द्वारा नारी-शक्ति की शरण में जाना--ये सभी साहित्य, मिथक और इतिहास की त्रिभंगी मुद्रा को लैंगिकता की दृष्टि से भी देखने का प्रयास है।

ए.के.रामानुजन ने तीन सौ रामायणों की गणना (पौला रिचमैन द्वारा संपादित 'मैनी रामायणज...', 1991/1992 में ) करके ख्याति और कुछ की नजरों में कुख्याति अर्जित की। इससे बहुत पहले 1950 में प्रकाशित फादर कामिल बुल्के के शोध प्रबन्ध 'राम-कथा : उत्पत्ति और विकास' (इसका अति परिवर्द्धित दूसरा संस्करण, 1962) में भारत और विदेशों की विभिन्न भाषाओं में लिखित और लोक संस्कृतियों में प्रचलित विभिन्न रामायणों का उल्लेख किया गया था। प्रभाकर श्रोत्रिय कृत 'भारत में महाभारत : शोध समीक्षा' (दूसरा संस्करण 2015) में असंख्य महाभारतों का जिक्र है (इस संदर्भ में हाल में प्रकाशित नेल्ल शपीरो हावली और सोहिनी सराह पिल्लै द्वारा संपादित 'मैनी महाभारतज', 2023 भी देखें)। इन असंख्य महाभारतों में आदिवासियों और जनजातियों के बीच प्रचलित वे रूप भी हैं, जो अभी तक मौखिक परंपरा में जीवित हैं। लगभग साठ वर्ष पूर्व 'नया थिएटर' के संस्थापक और प्रसिद्ध रंगकर्मी हबीब तनवीर ने दिल्ली की महानगरीय संस्कृति को पूनाराम निषाद द्वारा पांडवानी (छत्तीसगढ़ी शैली में 'महाभारत' के आख्यान, जिसकी तुलना किस्सागोई से भी की जा सकती है) के गायन और प्रस्तुति से रूबरू कराया था। कुछ ही वर्ष बाद फिर तीजनबाई द्वारा इसी कला का प्रदर्शन करवाकर उसे अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक पहुँचा दिया। इसी दिशा में एक और कदम बढ़ाते हुए साहित्य अकादेमी ने गुजरात की भील जनजाति की लोक-प्रसिद्ध मौखिक महाभारत को 'भीलों का भारथ' (2000) नाम से लिपिबद्ध कर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया (लोक संस्कृतियों में प्रचलित महाभारतों के उपयोगी अध्ययन के लिए के. एस. सिंह द्वारा संपादित 'द महाभारत इन दि ट्राइबल एंड फोक ट्रेडीशंस ऑफ इण्डिया', 1993 देखें)।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में दोनों महाकाव्यों की जो सृजनात्मक रचनाएँ मिलती हैं, वे उनकी असीमित नवीनताओं की परिचायक हैं। जहाँ रामायण के अनेकों पात्रों, विशेषकर नारी पात्रों को आधार बनाकर आज तक साहित्य की अनेक विधाओं (काव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, आदि) में रचनाएँ हो रही हैं; वहीं महाभारत के आख्यानों को भी परवर्ती साहित्यकारों एवं इतिहासज्ञों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से देखने के प्रयास किए हैं। महर्षि व्यास द्वारा रचित अस्त्रों के लिए किरात के छद्मी रूप में भगवान शिव और अर्जुन के संघर्ष की कथा को महाकवि भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम' में काव्य रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें द्रौपदी का रौद्र रूप विशेष आकर्षित करता है। 'महाभारत' में ही प्राप्य दमयंती-नल उपाख्यान अखिल-भारतीय स्तर पर फारसी सहित अनेक भाषाओं, विविध कला शैलियों, एवं विभिन्न मतावलंबियों में लोकप्रिय हुआ। इसका आभास सूनन एस. वाडले द्वारा संपादित 'दमयंती एंड नल : दि मैनी लाइवज ऑफ अ स्टोरी' (2011) से हो जाता है। पतिव्रता नारी की महिमा का गुणगान करने वाली 'महाभारत' की सावित्री-सत्यवान कथा को महर्षि श्री अरविंद ने अपने महाकाव्य 'सावित्री' (1947) में यम से उसके वार्तालाप को दैविक प्रतीकात्मकता की ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया।

15वीं सदी में सारला दास नामक कृषक एवं शूद्र द्वारा ओड़िया भाषा में रचित 'महाभारत' (अनेक लोक-कथाओं के समागम की वजह से यह मूल संस्कृत महाभारत से भी बड़ा ग्रंथ है और लेखक ने इसे विष्णु पुराण भी कहा है।) में गंगा के अलावा कुंती व अन्य पाण्डव स्त्रियों की स्वच्छंद कामेच्छाओं का वर्णन और गांधार नरेश द्वारा दुर्योधन व अन्य कौरवों का विरोध करने और उनसे प्रतिशोध लेने के लिए शकुनि को हस्तिनापुर भेजने का षड्यंत्रकारी प्रयोजन जैसे अति अनूठे प्रसंग हैं। 16वीं शताब्दी की 'जैन' रचना (हेमविजयगणि कृत) 'कथारत्नाकर' की एकलव्य गाथा में गुरु द्रोणाचार्य नहीं अपितु स्वयं अर्जुन खलनायक है। महाभारत में वर्णित स्वायत्त और कुछ विद्रोही सी शकुन्तला कालिदास के नाटक

(‘अभिज्ञान-शाकुंतलम्’) की उच्च वर्गीय रोमानी पर विनीत नायिका और फिर कालांतर में 19-20वीं शताब्दी के राष्ट्रीय आंदोलन तक दबू सी हिन्दू नारी का आदर्श कैसे और क्यों बन गई? इतिहास, साहित्य, सामाजिक संस्कृति और लैंगिकता के अंतर्संबंधों के परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न का उत्तर देती है रोमिला थापर कृत ‘शकुंतला : टेक्स्ट्स, रीडिंग्ज, हिस्ट्रीज’ (1999)।

यह तो सर्वविदित है कि भारत कि अति समृद्ध साहित्य की विरासत मौखिक और श्रुत परंपरा की देन है। स्वभावतः ऐसी विरासत में समय-समय पर फेर-बदल होना भी लाजिमी है। इस प्रक्रिया में लोक-तत्त्वों का जुड़ाव इस विरासत को और अधिक समृद्ध करता है। इसकी पुष्टि न केवल मिथकों और आख्यानों के नवसृजन वाले उपर्युक्त दृष्टान्तों से, बल्कि उनके बदलते रूपों के आधुनिक ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययनों से भी होती है। इस संदर्भ यह मान लेना अनुपयुक्त न होगा कि माधवजी कृत पद्मिनी में भी ऐसे ही प्रयास द्वारा लोकधारा में प्रचलित अनेक आख्यानों को ऐतिहासिक जामा पहनाने का दुष्कर बीड़ा उठाया गया है।

### ‘राजपूत’, ‘क्षत्रिय’ और ‘सामंतवाद’

अन्त में हम ‘संस्कृति’ नामक छठे अध्याय में विवेचित दो ऐसे मुद्दों पर नजर डालना चाहेंगे, जो शायद प्रो. हाड़ा की किंचित भ्रमित ऐतिहासिक धारणाओं के कारण अर्ध-सत्य बन कर उभरें हैं। वैसे तो पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण 14वीं सदी के समाज का महत्त्वपूर्ण अध्याय रहा है और इसे अक्सर राजपूतों की आन-बान-शान का देदीप्यमान उदाहरण भी माना जाता है। 14वीं सदी के समाज के नजरिये से इसमें क्षत्रियत्व की गरिमा मंडन के भी लक्षण चिह्नित किए गए हैं। शायद यह काफी हद तक वाजिब भी ठहराया जा सकता है। पर न जाने क्यों प्रो. हाड़ा ‘राजपूतों’ की उत्पत्ति के प्रश्न को उठा बैठे। (पृ. 174-179) उत्पत्ति का यह मुद्दा वर्तमान युगीन सातवीं-आठवीं शताब्दियों से जुड़ा है। इस संदर्भ में शोधकर्ताओं ने 19वीं और 20वीं सदियों में अनेक प्रमेय प्रस्तुत किए, जिनमें से एक उन्हें ‘विदेशी’ सिद्ध करता है। ‘राजपूत’ और ‘क्षत्रिय’ को दो अलग ‘जातियाँ’ न मानते हुए प्रो. हाड़ा दृढ़ता से कहते हैं, “यह धारणा आधारहीन है कि राजपूत ‘क्षत्रिय’ से भिन्न जातीय समूह है, जो बाहर से आकर यहाँ के क्षत्रिय जातीय समूहों में घुल-मिल गया।” इस मुद्दे से संबंधित आजकल इतिहासज्ञों के बीच जो दृष्टि अधिक स्वीकार्य है, वह ‘राजपूतीकरण’ नामक सामाजिक प्रक्रिया पर आधारित है। इस प्रक्रिया में न तो राजपूतों को ‘विदेशी’ अथवा ‘स्वदेशी’ की पहचान से चिह्नित किया गया है और न ही उन्हें मात्र ‘क्षत्रियत्व’ की ही सीमा तक बाँध कर रखा गया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समाज के हीन तबकों से आने वाले परंतु ओजस्वी, कौशलपूर्ण शौर्य प्रदर्शनकारी एवं उद्यमी लोगों ने भी ‘राजपूती’ दर्जा हासिल कर लिया। कालांतर में चतुर ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा गढ़ी हुई वंशावलियों ने उत्तर और पश्चिमी भारत के अनेक राजवंशों के राजाओं को ‘चंद्रवंशी/सूर्यवंशी’, ‘क्षत्रिय राजपूत’ की परंपरा में ढाल दिया। यूँ तो प्रो. हाड़ा को राजपूतों की ‘उत्पत्ति’ के प्रश्न को उठाने की जरूरत नहीं थी; पर जब वह मुद्दा उठा ही लिया तो काश, वे ‘राजपूतीकरण’ की प्रक्रिया का भी जिक्र कर देते तो विषय विमर्श पूर्णांगी हो जाता।

कुछ ऐसा ही मुद्दा ‘फ्यूडलिज्म’ या ‘सामंतवाद’ पर माधवजी की विवेचना से संबन्धित है। (पृ. 185-193) प्राचीन और पूर्व मध्य युगीन भारत में सामाजिक संरचना की इस निर्मिति के गठन-बोध को लेकर इतिहासज्ञों के बीच 1940 के दशक से ही खूब विवाद रहा है। आरंभिक चरणों में सूक्ष्म दृष्टि इस बात पर टिकी रही कि यह कितना यूरोप के प्रारूप से प्रभावित था और कितना देशी हकीकत से। इस दीर्घकालीन विवाद की वर्तमान स्थिति यह है कि न केवल भारत में ‘फ्यूडलिज्म’ या ‘सामंतवाद’ की अपनी विशिष्टताएँ हैं, बल्कि इस विशाल उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों/राज्यों में भी इसके भिन्न-भिन्न रूप संभव हैं। इस पूरे प्रकरण में प्रो. हाड़ा अनावश्यक विश्लेषण से बच सकते थे। पहले

तो रामशरण शर्मा और हरबंस मुखिया के अकादमिक द्वंद का मात्र अर्ध-सत्य ही पेश किया गया है। जब प्रो. मुखिया के 'स्वतंत्र कृषकों' की अवधारणा के विरुद्ध प्रो. शर्मा ने तर्कपूर्ण तरीके और महत् जमीनी साक्ष्यों की सहायता से कृषकों, काश्तकारों एवं अन्य कारीगरों की गतिहीनता, भूमि-बद्धता और विभिन्न भू-स्वामियों द्वारा उनके शोषण को रेखांकित किया, तो स्वयं प्रो. मुखिया ने स्वीकार किया कि वे गलत राह पर थे। दूसरी बात यह कि प्रो. शर्मा कृत 'इंडियन फ्यूडलिज्म' और अन्य संबन्धित उनके लेखनों का मूल प्रतिपादन केवल 13वीं सदी तक के साक्ष्यों पर आधारित थे। अतः 14वीं सदी के मेवाड़ की विशिष्ट स्थिति को दृष्टिगत कर उनके प्रतिपादन की तथाकथित अवैधता घोषित करना, जैसा कि प्रो. हाड़ा ने किया है, कुछ न्यायपूर्ण नहीं लगता। 'सामंतवाद' संबंधी इस विवाद का तीसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण। हमें यह हृदयंगम कर लेना चाहिए कि भारतीय 'सामंतवाद' में दोनों ही प्रवृत्तियाँ एक साथ देखी जा सकती हैं और वास्तव में इनकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से सामाजिक संरचना में 'सामंतवाद' का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। सोपानात्मक सैन्य संगठन को भी अनिवार्य ढंग से 'फ्यूडलिज्म' का अभिन्न अवयव नहीं मान सकते। वैसे प्रो. रामशरण शर्मा के प्रतिपादन में ब्राह्मणी और गैर-ब्राह्मणी धार्मिक संस्थानों को दिए गए भूमि अनुदानों के अलावा, सैनिकों/सुरक्षा-बल एवं राज्य के अन्य अधिकारियों को 'वृत्ति' (राजस्थानी शब्दावली में कहें तो 'ग्रास') देने का भी प्रावधान था। वास्तव में 'सामंतवाद' की जड़ें ऐसे बहुरूपी भू-स्वामित्व वाले समाज में देखनी चाहिए जहाँ कृषकों, काश्तकारों एवं अन्य कारीगरों के शोषण के लक्षण देखने को मिलें। यूँ तो प्रो. हाड़ा ने कतिपय ख्यातों, जेम्स टाड, हुकुमसिंह भाटी व अन्य आनुषांगिक लेखकों के अध्ययनों का हवाला देते हुए मेवाड़ में प्रायः ऐसे समाज का उल्लेख किया है, पर क्या पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण वाले देशज कथा-काव्य भी 14वीं सदी के मेवाड़ में ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं? इसका उत्तर कुछ धूमिल सा है। हमें ऐसा लगता है कि उपरोक्त दोनों मुद्दों पर प्रो. हाड़ा के निर्वचन शायद क्षेत्रीय गरिमा प्रदर्शन का दायित्व वहन करने के तकाजे से प्रेरित हैं।

#### अन्ततः

माधव हाड़ा का यह आलोचनाधीन शोध-प्रबन्ध निस्संदेह 14वीं सदी के पद्मिनी-रत्नसेन प्रकरण को कोरी कल्पना के दायरे से बहुत ऊपर उठाकर साहित्यकारों, इतिहासज्ञों एवं मिथक विज्ञानियों के लिए चुनौती बनाकर प्रस्तुत करता है। यह भी निर्विवादित रूप से कहा जा सकता है कि इस जोखिम भरी रचना ने भारतीय इतिहास के गठन के लिए देशज स्रोतों की उपयोगिता को रेखांकित कर 'ऐतिहासिकता' के नए बोध की ओर भी कदम बढ़ाए हैं। हमें इस बात का भी विश्वास है कि लेखक अपनी इस अपेक्षा पर खरे उतरेंगे कि उनका यह प्रयास मध्यकालीन 'साहित्य' कि हमारी समझ को भी विस्तृत और समृद्ध करेगा। कुल मिलाकर हमारे लिए यह कृति अद्भुत और विलक्षण रही है और इसने हमारे इतिहास बोध का पर्याप्त संवर्धन किया है।

बस, एक छोटी सी शिकायत प्रकाशक से। यदि उनके संपादक मण्डल ने थोड़ी सावधानी दिखाई होती तो प्रबन्ध में अभिव्यक्तियों और विचारों की पुनरावृत्तियों से बचा जा सकता था। कहीं-कहीं चंद अंग्रेजी / विदेशी नामों के देवनागरीकरण में कुछ विसंगतियाँ आ गई हैं, यथा पृष्ठ 161 (पाद टि. 2) में इलियाडे का नाम मर्सिया के स्थान पर भिरेसा हो गया है। ऐसी त्रुटियाँ क्षम्य हैं।

#### समीक्षित कृति

**पद्मिनी : इतिहास और कथा-काव्य की जुगलबंदी**

माधव हाड़ा

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला

248 बनास जन